

अभिषेक अग्निहोत्री

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।



भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनी साधना पद्धति में किसी न किसी रूप में योगमार्ग का अवलम्बन किया है। वास्तव में यदि योग की परिभाषा पर विचार किया जाय तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति योगमय है। योग शब्द युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है। सामान्यतः इसके तीन अर्थ होते हैं— समाधि, योग (जोड़ना) और संयम। यह तीनों शब्द सम्मिलित रूप से मिलकर योग को अभिव्यक्त करते हैं। योग का साधन है संयम और जोड़ना और लक्ष्य है समाधि। अष्टांगिक योगमार्ग का प्रथम चरण यम नियम के रूप में बाह्य संयम से प्रारम्भ होता है। अष्टांग योग का प्रथम अंग 'यम' है। यम के अन्तर्गत पाँच कर्तव्य¹ बताये गये हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह। सामान्यतः ये पाँचों कार्य किसी विशेष कर्म का निषेध करते हैं, जैसे— अहिंसा अपने आप में कोई कर्म नहीं है अपितु हिंसा न करना ही अहिंसा है। यह हिंसा की वृत्ति मानसिक, वाचिक एवं कार्मिक तीनों में से किसी भी प्रकार की हो सकती है। योगशास्त्र में इन तीनों का ही निषेध किया गया है और यह हिंसा की वृत्ति जीव, जन्तु, मनुष्य एवं किसी भी प्राणी के प्रति हो सकती है। इसलिए अहिंसा के विषय में यह कहा गया है कि — 'सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामभिद्रोहः' सदैव सभी प्राणियों के प्रति पीड़ा पहुँचाने की भावना। हिंसक कर्म का बीज तो हिंसक विचार में निहित होता है पहले हिंसा का विचार उत्पन्न होता है जिसका प्रकटीकरण हिंसक वाणी या कर्म में होता है। अतः योग चित्तवृत्तिनिरोध के रूप में हिंसक वृत्ति को ही रोकने की बात करता है।

यम का दूसरा अंग सत्य है, सत्य भी प्रमुख रूप से असत्य बोलने का निषेध है। झूठ न बोलना ही सत्य है, सत्य बोलने के लिए झूठ का निषेध अत्यन्त आवश्यक है। इसका भी मन, वाणी एवं कर्म के आधार पर बहुत ही गम्भीर चिन्तन किया गया है। मन से सत्य का वाचन करने वाला उन्नति को प्राप्त करता है।² सत्य की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि व्यक्ति जैसा देखता है वैसा ही कहता है तो वह सत्य है।³ सत्य के आधार पर समाज में आपसी विश्वास, सामंजस्य एवं शान्ति की स्थापना सम्भव होती है। इसलिये ऋग्वेद में कहा गया है कि सत्य की जिह्वा मधुर तथा प्रिय को पवित्र करती है।⁴ सत्यनिष्ठ बुद्धि कुटिल विचारों को नष्ट कर देती है।⁵ सत्य को धारण करने वाला व्यक्ति समाज में स्तुत्य होता है⁶, तथा सत्य बड़े-बड़े समूहों वाले शत्रुओं को पराजित कर देता है।⁷ अतः मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से सत्य विचार एवं वाणी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यम का तीसरा अंग अस्तेय भी मानव व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अस्तेय की परिभाषा लेते हुए योगसूत्र के भाष्यकार का कहना है कि अशास्त्रोक्त विधि से दूसरों के धनादि को ग्रहण करना ही अस्तेय है।⁸ दूसरे के धन को प्राप्त करने की इच्छा रखना या उसे छल-छद्म पूर्वक प्राप्त करना अस्तेय के अन्तर्गत आता है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि किसी के धन का लोभ मत करो।⁹ अपने कर्तव्य कर्मों का भलीभाँति निष्पादन न करना तथा उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले फल की इच्छा करना या उसे ग्रहण करना यह भी चोरी के अन्तर्गत आता है। इसीलिए अपने कर्तव्य को पूर्ण निष्ठा के साथ करना तथा उससे प्राप्त होने वाले फल में प्रसन्न रहना ही अस्तेय माना गया है।

भारतीय साधना पद्धति में ब्रह्मचर्य को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। योगसूत्रकार ने ब्रह्मचर्य को यम के चौथे अंग के रूप में प्रस्तुत किया है। भाष्यकार व्यास ने इस पर टिप्पणी लिखते हुए गुप्तेन्द्रिय अर्थात् जननेन्द्रिय का निग्रह ब्रह्मचर्य कहा है परन्तु शास्त्रीय दृष्टिकोण एवं भारतीय चिन्तन पद्धति में ब्रह्मचर्य की एक व्यापक अवधारणा स्वीकार की गयी है। ब्रह्मचर्य मात्र शारीरिक क्रिया ही नहीं वरन् यह एक मानसिक चिन्तन है। ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत कामभाव का स्मरण, चिन्तन, प्रेक्षण, भाषण, कामक्रीड़ा, संकल्प, प्रयत्न एवं क्रिया ये आठ अंग आते हैं इन सभी के निषेध को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है। ब्रह्मचर्य मानव व्यक्तित्व में तेजस्विता को उत्पन्न करता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि इन्द्र ने ब्रह्मचर्य से ही देवों को तेजस्वी बनाया।¹⁰ ब्रह्मचर्य मानव व्यक्तित्व एवं विचार में संयम को उत्पन्न कर लक्ष्य के प्रति एकाग्रता की वृद्धि करता है। विशेष रूप से विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य रक्षण का बहुत ही अधिक महत्व है। मन के विकल्पों को दूर कर ज्ञानार्जन में अपनी समस्त मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों को सन्निविष्ट करने के लिए ब्रह्मचर्य का विधान किया गया था। अथर्ववेद में कहा गया है कि ब्रह्मचारी स्नातक संसार में बहुत यशस्वी होते हैं।¹¹

न्यूनतम विषय सामग्री में भी अपना भरण पोषण कर लेना अपरिग्रह के अन्तर्गत आता है। विषय सामग्री को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने के अनेक प्रकार के हिंसादि दोष तथा उनके प्रति आसक्ति के उत्पन्न होने से मानव व्यक्तित्व का क्षरण होता है तथा अनेक दुर्गणों की वृद्धि होती है। भ्रष्टाचारादि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः मानव व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से अपरिग्रह का बहुत ही महत्व है। वस्तुओं के उपार्जन में प्रकृति, पर्यावरण, समाज, संस्कृति एवं सृष्टि में संतुलन बना रहे उसमें किसी प्रकार का व्यवधान एवं असंतुलन न उत्पन्न हो इस भावना से किए गए कर्म को शास्त्रकारों ने यज्ञ कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि यज्ञ के अवशिष्ट को खाने वाले महापुरुष समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं जब कोई व्यक्ति यज्ञ परम्परा का पालन नहीं करता और स्वयं के स्वार्थ के लिए उपार्जित करने की चेष्टा करता है तो वह पाप का भक्षण करता है।¹²

अष्टांग योग का दूसरा अंग 'नियम' है। नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्राणिधान यह पांच कर्म आते हैं। शौच का अर्थ पवित्रता है। इसके बाह्यन्तर दो भेद हैं, बाह्य शौच के अन्तर्गत पवित्र भोजन, वस्त्र एवं शारीरिक पवित्रता आती है। जबकि आन्तरिक शौच के अन्तर्गत

चित्त के दोष दूर करना तथा भावनाओं का शुद्धिकरण आता है। वस्त्र, आहार तथा शरीर की स्वच्छता मानव स्वास्थ्य की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। स्वच्छता की शिक्षा देने के लिए सरकार एवं अन्य सामाजिक संस्थाओं के द्वारा वर्तमान समय में भी अनेक कार्यक्रम किये जा रहे हैं। व्यक्तित्व के इस महत्त्वपूर्ण अंग को ही योगांग के रूप में स्वीकार कर मानव व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सन्देश दिया गया है।

विद्यमान साधनों से अधिक का संग्रह न करने की इच्छा रखना संतोष है।¹³ मानव व्यक्तित्व में संतोष का न होना ही सामाजिक अशांति एवं अव्यवस्था का बहुत बड़ा कारण है। 'संतोषः परमसुखम्' के रूप में हमारे शास्त्रकारों ने सुख का परम आधार संतोष को माना है। व्यक्ति अपने कर्म के द्वारा धर्मपूर्वक जो उपार्जित करे उसमें सम्यक् रूपेण तुष्ट रहना ही संतोष है। जब कोई व्यक्ति अपने द्वारा कृत्य कर्म से अधिक फल प्राप्ति की अपेक्षा रखता है तब असंतुष्टि की भावना के कारण वह स्वयं भी दुःख प्राप्त करता है और समाज में भी अव्यवस्था उत्पन्न करता है। ऐसा असंतुष्ट व्यक्ति दुगुना धन पाकर भी दरिद्र रहता है।¹⁴

विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक परिस्थितियों में भी संतुलन बनाये रखना तप के अन्तर्गत आता है। शरीर की अनुकूलता, प्रतिकूलता, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, खड़े-बैठे हुए स्थिति में भी अपने ध्येय के प्रति एकनिष्ठ और संयमित रहना तप है। तप की भावना मानव व्यक्तित्व के संतुलन की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति में अनुकूल-प्रतिकूल द्वन्द्वों की सहन की क्षमता जितनी अधिक होती है वह व्यक्ति परिवार समाज एवं राष्ट्र के संतुलन में उतना ही महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता है। इन्द्रिय सहयोगजन्य सुख की तृष्णावश ही लोग गलत मार्गों का अनुसरण करते हैं। अनेक सामाजिक कुकृत्यों का मूल कारण व्यक्ति में तप की भावना का अभाव है। शास्त्रों में कहा गया है कि तप द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से मन वश में आता है, मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है, और आत्मा की प्राप्ति हो जाने से संसार के समस्त क्लेशों से छुटकारा मिल जाता है।¹⁵

भारतीय चिंतन में स्वाध्याय की व्यापक परिकल्पना है, स्वाध्याय का अर्थ केवल पुस्तकों का अध्ययन ही नहीं अपितु स्वयं के अन्तःकरण कर्म एवं चरित्र का भी अध्ययन है। यद्यपि अष्टांग योग के भाष्यकार ने मोक्षशास्त्रों के अध्ययन एवं ओंकार के जप को स्वाध्याय माना है।¹⁶ परन्तु इन दोनों प्रकार के कर्मों में ही बाह्य एवं आन्तरिक स्वाध्याय का संकेत उन्होंने दिया है। वैदिक वांगमय स्पष्ट रूप से कहता है कि स्वाध्याय से कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।¹⁷ यदि किसी व्यक्ति ने स्वाध्याय से प्रमाद किया तो वह निश्चित रूप से मार्ग से भटक जायगा। शास्त्रों का अध्ययन एवं उनके अनुकूल अपने आचरण व चरित्र की दिशा में बढ़ोत्तरी का सम्यक अवलोकन सदैव करते रहना चाहिए। यदि इसमें किसी प्रकार का प्रमाद उत्पन्न हुआ या किसी एक पक्ष को ही अधिक महत्त्व दिया गया तो सम्यक स्वाध्याय की प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती।

ईश्वर के प्रति समस्त कर्मों के अर्पण को ईश्वरप्राणिधान कहा गया है।¹⁸ ईश्वर के प्रति कर्मों के अर्पण की यह श्रेष्ठ भावना व्यक्ति को अनेक प्रकार के संतापों से मुक्त कर देती है। वह

जय-पराजय, हानि-लाभ सभी में निःस्पृह भाव से स्थित हो कर अपने कर्मों को सम्यक् रूपेण निष्पादन करता है। गीता में कहा गया है कि ऐसा योगी जो मन एवं बुद्धि से अपने समस्त कर्मों को ईश्वर को अर्पित कर देता है वह दृढनिश्चयी सदैव संतुष्टि का अनुभव करता है।¹⁹ ईश्वरार्पण बुद्धि से किये गये कर्म समाज में एक प्रकार से न्यास की भावना की अभिवृद्धि करते हैं और ऐसे कर्मशील लोग ही यथार्थ में संन्यासी होते हैं।

वास्तव में मनुष्य का व्यक्तित्व निर्माण उसके अन्तःकरण मन, बुद्धि, अहंकार एवं चित्त के संतुलन पर निर्भर करता है, जिसका बाह्य प्रकटीकरण उसके कर्मों के माध्यम से होता है। परन्तु अन्तःकरण के संतुलन की अवस्था तक पहुँचने के पूर्व कुछ ऐसे विधि-निषेध आवश्यक होते हैं, जो हमें हमारे अन्तःकरण के वृत्तियों का वास्तविक आभास करा सके, नहीं तो व्यक्ति स्वयं की अपने अन्तःकरण को समझ सकने में असफल रहता है। यम और नियम योग की प्रथम साधनावस्था में ऐसे विधि-निषेध हैं जो व्यक्ति के चित्तवृत्तियों का आभास कराकर उनके निरोध की तरफ अग्रसर करते हैं। जिसका अनुशासन योग के द्वितीय सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के द्वारा किया गया है। परन्तु इस यम और नियम के पालन का आन्तरिक प्रभाव के साथ-साथ बाह्य प्रभाव भी परिवार समाज एवं सृष्टि के साथ व्यक्ति के संतुलन के रूप में उद्भासित होता है, और वह व्यक्ति समाज में एक श्रेष्ठ मर्यादित एवं अनुशासित व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। अतः व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में अष्टांगिक योगमार्ग के यम और नियम का अद्वितीय प्रभाव है।

सन्दर्भ

1. अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमा (पातंजलि योगसूत्र - 2.30)
2. मनसा वा एऽवदनऋतानि (अथर्ववेद - 7.1.1)
3. यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते (ऋग्वेद 5.44.6)
4. ऋतस्य जिह्वा पवतेमधुप्रियम् (ऋग्वेद 9.75.2)
5. ऋतस्य धृतिर्वृजिनानि हन्ति (ऋग्वेद 4.23.8)
6. अभिश्रावे भवता सत्यवाचा (अथर्ववेद 18.1.29)
7. ऋतम् सासाह महिचित्तपृतन्यतः (ऋग्वेद 8.86.5)
8. स्तेयमशास्त्रपूर्वकम् द्रव्याणां परतः स्वीकारणम् (पातंजलयोग भाष्य 2.30)
9. मागृधः कस्यस्विद्धनम् (यजुर्वेद 40.1)
10. इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत (अथर्ववेद 11.5.19)
11. स स्नातः पृथिव्यांबहुरोचते (अथर्ववेद 11.5.26)
12. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः। भुंजते ते त्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। (श्रीमद्भगवद्गीता 3.13)
13. सन्तोषः सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा (पातंजलयोग भाष्य 2.32)
14. द्विभाग धनमादाय प्र क्षिणात्यवर्तया (अथर्ववेद 12.2.35)
15. तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यतेत्वात्मा ह्यत्माप्त्या निवर्तते।। (मैत्रायण्युपनिषद् 4.3)
16. मुच्छशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा। (पातंजलयोग भाष्य 2.32)
17. स्वाध्यायान्माप्रमदः (तैत्तिरियोपनिषद् 1.11)
18. तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मारपणम् (पातंजलयोग भाष्य 2.32)
19. संतुष्टः सततं योगो ह्यात्मादृढनिश्चयः। मय्यर्पित मनो बुद्धिर्यो मद्भक्तः समेप्रियः (श्रीमद्भगवद्गीता 12.14)